"सा विद्या या विमुक्तये"

शिक्षा की भारतीय दृष्टि*

नन्दकिशोर आचार्य

> ''शिक्षा की समस्याएं हमारे युग की गहनतम समस्याओं का प्रतिबिम्ब मात्र हैं। उन्हें संगठन, प्रशासन या अधिक धन व्यय से नहीं सुलझाया जा सकता, यद्यपि इन चीजों के महत्त्व से इनकार नहीं किया जा सकता। हम दरअसल, एक तत्वमीमांसीय रोग से ग्रस्त हैं और उसका इलाज भी इसलिए तत्वमीमांसीय ही हो सकता है। जो शिक्षा हमारे केन्द्रीय विश्वासों को स्पष्ट न कर सके, वह केवल प्रशिक्षण या व्यसन मात्र है। जब तक हमारे विश्वास गड्ड-मड्ड रहते हैं और वर्तमान तत्वमीमांसा-विरोधी वातावरण बना रहता है, अव्यवस्था बदतर होती जाएगी।''[1]
>
> - ई. एफ. शुमाकर

क्या यह एक विचित्र विडम्बना नहीं लगती कि जब एक ओर हमारी शिक्षा नीतियों के निर्माता शिक्षा को आर्थिक वृद्धि का संसाधन मात्र बना देने पर तुले हों, एक महत्त्वपूर्ण अर्थशास्त्री दूसरी दिशा की ओर संकेत कर रहा है?

'सा विद्या या विमुक्तये'[2] का स्पष्ट तात्पर्य है कि विद्या मुक्त करती है। मैं शिक्षा के बजाय विद्या पद अधिक पसन्द करता हूं क्योंकि उसमें शिक्षक के बजाय सीखने वाला केन्द्र में रहता है। 'विष्णु पुराण' के इस श्लोक में न केवल विद्या के वास्तविक महत्त्व को केन्द्र में रखा गया है, साथ ही यह जीवन के सभी पहलुओं का भी समावेश कर लेता है। इस श्लोक को पढ़ते ही सवाल उठते हैंः किसकी मुक्ति, किससे मुक्ति, किसलिए मुक्ति? और यह भी कि विद्या मुक्ति की प्रक्रिया क्यों है, वह किस प्रकार मुक्ति के प्रयोजन को पूरा करती है। भारतीय परंपरा की सभी धाराओं में 'विद्या' की अवधारणा पर गहरा और विस्तृत विचार हुआ है। वैदिक, बौद्ध, जैन और अनन्तर पौराणिक और सिख सम्प्रदाय सभी मुक्ति, निर्वाण या कैवल्य आदि को जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं। लेकिन वह बंधन क्या है जिससे ये सभी मुक्त होना चाहते हैं? यह अविद्या से मुक्ति है जो वास्तविक बंधन या दुख का कारण है। अंग्रेजी में इसका अनुवाद 'इग्नोरेंस' किया जाता है। लेकिन यह अज्ञान नहीं है। अविद्या का वास्तविक तात्पर्य है किसी भी परिघटना के अन्तर्जात या सारभूत स्वरूप को नहीं जान पाना। किसी भी वस्तु के धर्म को न जान पाना। धर्म किसी भी वस्तु का सारभूत या अन्तर्जात स्वरूप और प्रक्रिया है। सतह पर दिखाई देने वाली वास्तविकताएं भ्रांति या भ्रम नहीं होतीं। वे भी वास्तविक होती हैं, पर सारभूत नहीं। जैन दर्शन मानता है कि वास्तविकता के कई रूप और पहलु हो सकते हैं जिनकी जानकारी ज्ञान की भिन्न प्रक्रियाओं के माध्यम से होती है। इन्हें मति, श्रुति, अवधि, मनः पर्याय और केवल कहा गया है।[3] यह स्मरणीय है कि जैन दर्शन में जीव को 'ज्ञान स्वरूप' अर्थात् शुद्ध चेतना कहा गया है। वास्तविकता या सत् के अनेक रूप और आयाम हो सकते हैं, इसलिए उसके साररूप के साथ इन सभी आयामों और रूपों को जानना विद्या है। वैदिक और बौद्ध दर्शनों में भी विद्या-अविद्या को मोटे तौर पर इसी तरह समझा गया है। जब मनुष्य की मनोवृत्ति, आचरण, अन्तःसंबंध और क्रियाकलाप विद्या के इस बोध से प्रेरित एवं संचालित होते हैं, तभी वह अविद्या के बंधन से मुक्त होने में सफल हो पाता है क्योंकि भारतीय परंपरा में विद्या सत्य की सूचनात्मक जानकारी

लेखक परिचय

हिन्दी के जाने-माने चिन्तक, कवि, नाटककार एवं आलोचक। वर्तमान में इंटरनेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ इंफोर्मेशन टैक्नोलॉजी, हैदराबाद (IIIT, Hyderabad) में प्रोफेसर ऑफ एमिनेंस हैं।

* अजीम प्रेमजी विश्वविद्यालय, बैंगलोर द्वारा शिक्षा-दर्शन पर आयोजित द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत वक्तव्य। मूल वक्तव्य अंग्रेजी में था।

नहीं है; वह सत्य की अनुभूति करना है। शंकराचार्य जैसे महान तर्कशास्त्री भी अन्ततः अनुभूति को ही वास्तविक ज्ञान स्वीकार करते हैं।

लेकिन जानने का कोई भी प्रकार मूलतः जानने वाले अर्थात् ज्ञाता की स्थिति और मनोरचना पर निर्भर करता है। इसलिए वास्तविक ज्ञान के लिए स्वयं के वास्तविक स्वरूप को जानना एक पूर्वशर्त हो जाती है। इसलिए भारतीय विद्या-प्रक्रिया का प्रथम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य अपने सभी स्तरों और आयामों के साथ स्व की सारभूत प्रकृति या धर्म को जानना है।

यह जानने वाला- ज्ञाता- कौन है? क्या वह एक जैविक या जैविक-मनोवैज्ञानिक अस्तित्व मात्र है या एक सामाजिक-आर्थिक प्राणी अथवा एक आध्यात्मिक अस्तित्व? इतर-मानवीय और मानवेतर- के साथ उसका संबंध क्या है? उसके एक मनुष्य होने का अर्थ और उद्देश्य क्या है?

भारतीय परंपरा एक व्यक्ति मनुष्य और उनके जीवनार्थ को ऋण, ऋण-शोधन और पुरुषार्थ सिद्धान्तों की सहायता से परिभाषित करती है। हर मनुष्य अपने अस्तित्व के लिए अन्य का ऋणी है। सामान्यतः हम तीन प्रकार के ऋणों से परिचित है- पितृ ऋण, ऋषि ऋण और देवऋण; लेकिन शास्त्रों में दो और ऋणों का भी उल्लेख मिलता है- मनुष्य ऋण और भूत ऋण, जिनका तात्पर्य अन्य मनुष्यों अर्थात् समाज और मानवेतर अस्तित्व व प्रकृति का ऋण है जिनके बिना हमारा अस्तित्व सम्भव नहीं है।[4]

समग्रतः, एक मनुष्य अपने अस्तित्व के लिए न केवल अपनी वंश-परंपरा, ज्ञान-परंपरा, दैवी शक्तियों, अन्य मनुष्यों का ऋणी है- बल्कि साथ ही, प्रकृति, अन्य जीवन रूपों और पर्यावरण का भी। इन ऋणों का शोधन किस प्रकार हो सकता है। भारतीय परंपरा में इसके लिए पंच महायज्ञों का विधान किया गया है।[5] ये महायज्ञ सामान्य यज्ञों की तरह कोई अनुष्ठान नहीं है, जिसमें यज्ञ-वेदी की अग्नि में देवताओं के नाम पर हवि दी जाती है। ये बिना किसी अनुष्ठान के सामान्य मनुष्य से अपेक्षित कर्तव्य हैं, जिनका पालन कर वह ऋण-शोधन कर अपने को मुक्त कर सकता है। ये पांच महायज्ञ हैं- पितृयज्ञ (वंश परंपरा का निर्वाह, परिवार पालन और पूर्वजों का कृतज्ञतापूर्वक स्मरण), देवयज्ञ (दैवी शक्तियों का स्मरण), ब्रह्म यज्ञ (ज्ञान-परंपरा का विस्तार और विकास), मनुष्य यज्ञ (जरूरतमंद मनुष्यों की सहायता) तथा भूत यज्ञ (प्रकृति और मानवेतर प्राणियों का हित-साधन)। शास्त्रों में इन यज्ञों को सम्पन्न करने के कई तरीके सुझाए गए हैं। आज भी भारतीय समाज और परिवारों में सामान्य लोग इन कर्तव्यों का पालन करते दिखाई दे जाते हैं- यद्यपि इनके पीछे के तत्व-दर्शन का शायद विस्मरण हो चुका है।

ऋण-शोधन और पंच महायज्ञ की अवधारणाओं से यह भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि एक व्यक्ति मनुष्य के रूप में - यद्यपि व्यक्ति अन्य से पृथक नहीं है- वह समग्र अस्तित्व में व्याप्त अन्तःसंबंधों की व्यवस्था का एक अंश है। इसलिए, किसी भी प्रकार की पृथकता का बोध अविद्या है, जबकि अपने अस्तित्व के अनुभव के साथ-साथ अन्य से अपृथकता का यह बोध ही विद्या कहा जा सकता है। रामानुजनाचार्य से शब्द उधार लेकर कहें तो यह अपृथकसिद्ध भिन्नता है।

ज्ञान या विद्या ज्ञाता और ज्ञेय का संयोग एकत्व है। भारतीय परंपरा में शिक्षा का उद्देश्य, इसलिए वैयक्तिक, व्यवसायगत तथा सामाजिक-सांस्कृतिक के माध्यम से सामाजिक व्यवस्था और ऋत-व्यवस्था में अपनी भूमिका को पहचान कर उसके निर्वाह के लिए विद्यार्थी को समर्थ बनाना है। यही वह स्वधर्म है, जो मुक्ति की ओर ले जाता है। 'गीता' में स्वधर्म की अवधारणा की व्याख्या करते हुए श्री अरविन्द कहते हैंः 'बालक की शिक्षा का प्रयोजन उसमें जो कुछ सर्वोत्तम, समर्थतम, अन्तरंगतम और जीवन्त है, उसे अभिव्यक्त करने में समर्थ बनाना है; किसी भी मनुष्य का जीवन और क्रियाशीलता उसमें अन्तर्जात गुणों और सामर्थ्य के अनुसार होना चाहिए। उसे नवीनतम को प्राप्त करना चाहिए, लेकिन यह प्राप्ति तभी सर्वोत्तम रूप में हो सकेगी, जब वह उन्हें अपने विकसित रूप और अन्तर्जात सामर्थ्य के अनुसार करेगा। इसलिए, एक मनुष्य की क्रियाशीलताएं उसके स्वभाविक गुणों और योग्यताओं से निर्धारित होगी। जो व्यक्ति इस तरह अपना स्वतंत्र विकास करता है, वह एक जीवन्त आत्मा और मनस हो सकेगा

तथा मानव जाति की सेवा के लिए अधिक शक्ति संचय कर पाएगा।[6] इस संदर्भ में श्री अरविन्द स्पष्ट कहते हैंः ''आन्तरिक सत्य, न कि बाह्य रूपों पर इस आग्रह से वह आध्यात्मिक महत्ता और सामर्थ्य प्राप्त होती है जिन्हें गीता स्वधर्म के पालन के लिए आवश्यक मानती है।''[7]

ऋण-शोधन के इस दायित्व के साथ-साथ प्रत्येक मनुष्य की कुछ जैविक-मनोवैज्ञानिक, सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक-आध्यात्मिक आवश्यकताएं और आकाक्षांए भी होती हैं और एक सुखी-सम्पन्न परिपूर्ण मुक्त जीवन के लिए उनकी पूर्ति भी आवश्यक होती है। इसलिए, कोई भी शिक्षा-व्यवस्था उनकी अवहेलना नहीं कर सकती। इन आकांक्षाओं- आवश्यकताओं को 'पुरुषार्थ' सिद्धांत चार कोटियों में रखता है- धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। इन्हें प्रकारान्तर से जीवन-मूल्य भी कहा जा सकता है। धर्म किसी सामाजिक-संबंधों के विधान का सारभूत है क्योंकि न्याय और पारस्परिकता के अभाव में कोई भी समाज टिका नहीं रह सकता। जॉन रॉल्स का यह कथन पूर्णतः सत्य है कि न्याय किसी भी सामाजिक व्यवस्था का प्रथम गुण है। समाज में कुछ प्रतिस्पर्धा, विवाद आदि होंगे ही, लेकिन किसी भी स्थिति में कुछ मर्यादाओं और आचरण-संहिता के उल्लंघन की अनुमति नहीं दी जा सकती। अपने काम और अर्थ पुरुषार्थ की उपलब्धि करते हुए प्रत्येक मनुष्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अन्य की वैसी ही आकांक्षाओं और आवश्यकताओं का सम्मान करेगा तथा उनकी उपलब्धि में अन्य की सम्भव सहायता भी करेगा। शिक्षा वह प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से पारस्परिकता और न्याय के प्रति सम्मान का बोध विकसित किया जा सकता है- किसी आरोपित मूल्य की तरह नहीं, बल्कि मनुष्य के अन्तर्बीज के प्रस्फुटन- पल्लवन की तरह। यही कारण है कि जब भीम महाभारत युद्ध में अपनी शपथ निभाने के लिए कौरवों का रक्तपान करता है तो न केवल उसके शत्रु बल्कि बन्धु-बान्धव भी उसके इस कृत्य की घोर निन्दा करते हैं क्योंकि यह किसी भी तरह की मर्यादा के विरुद्ध है। संस्कृति का अर्थ ही परिष्कृत-संस्कारित करने की प्रक्रिया है और शिक्षा इस परिष्करण का सर्वोत्तम माध्यम। संस्कारित भावनाएं, जिन्हें एरिक फार्म 'द्वितीय प्रवृत्तियां' कहते हैं, इतिहास में अधिक महत्त्वपूर्ण और निर्धारक भूमिका निभाती हैं। डार्विन भी यह मानते हैं कि जीवन के मनुष्य रूप में अभिव्यक्त होने के साथ ही नैतिकता और सामाजिकता के भाव भी पैदा हो जाते हैं। प्रेम, न्याय, बन्धुत्व, उत्तरदायित्व आदि वे भाव हैं जो ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया के साथ विकसित होते गए हैं और इन भावों के परिष्करण के द्वारा शिक्षा से इतिहास की विकास-प्रक्रिया में अपनी भूमिका का निर्वाह करना अपेक्षित है। इसलिए, अपने इस स्वधर्म या अन्तर्जात प्रवृत्ति की पहचान और सभी संबंधों तथा क्रियाशीलताओं में उसके अनुरूप आचरण के विकास का माध्यम हो पाना भारतीय परंपरा में शिक्षा का केन्द्रीय प्रयोजन है।

शिक्षा का यह प्रयोजन अवधारणा मात्र नहीं है। इवान इलिच की यह स्थापना बिल्कुल सही है कि प्रत्येक शिक्षा-व्यवस्था का एक गुप्त एजेंडा भी होता है जो उसके घोषित एजेंडा से बिल्कुल विपरीत भी हो सकता है। यह गुप्त एजेंडा शिक्षा की प्रक्रियाओं और उसके संस्थानीकरण में छुपा होता है। इसलिए, यह देखना भी जरूरी हो जाता है कि हमारी पारंपरिक शिक्षा के संस्थानीकरण का स्वरूप क्या रहा और उससे कोई और एजेंडा तो पूरा नहीं हो रहा था।

भारतीय शिक्षा-व्यवस्था में, प्रथमतः तो विद्यार्थी की केन्द्रीयता ध्यान आकर्षित करती है। शिक्षक या गुरु का यह दायित्व माना गया है कि वह किसी भी विद्यार्थी को अपनी अन्तर्जात प्रतिभा और सामर्थ्य को पहचानने और उसे सम्भव सीमा तक विकसित करने में अपनी भूमिका का समुचित निर्वाह करे। इसीलिए सामान्यतः एक उम्र के बाद विद्यार्थी को गुरुकुल, आश्रम या गुरु के घर रहना होता था, जहां उसके परिवार का कोई हस्तक्षेप नहीं होता था। शिक्षा-संस्थान या गुरुकुल आदि राज्य अथवा बाजार के नियंत्रण से पूरी तरह मुक्त थे। सामान्यतः प्रत्येक शिक्षा संस्थान के पास अपने वित्तीय संसाधन- यथा कृषि भूमि, पशु-सम्पदा अथवा कुछ गांवों की कर-आय आदि होते थे तथा प्रत्येक विद्यार्थी को, चाहे उसकी जाति या वर्ग कोई हो, समान रूप से कुछ कर्तव्यों का निर्वाह करना होता था। वे एक ही तरह से खाते-पीते तथा कृषि या पशु-पालन आदि के कर्तव्य निबाहते थे। इन संस्थाओं के विवरणों का अध्ययन करने के पश्चात् पी. प्रभु इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ''सभी विद्यार्थियों का पारस्परिक संबंध समान था तथा प्रत्येक को अनुशासन और सादा जीवन के समान नियमों का पालन करना आवश्यक था।[8] समानता का

बोध, शारीरिक श्रम के प्रति सम्मान, सादा जीवन तथा प्रकृति और मानवेतर प्राणियों के प्रति लगाव और सम्मान का बोध इन विद्यार्थियों में जागृत और पोषित किया जाता था। जीवन के एकत्व, समानता और न्याय के सिद्धान्तों पर चलने के लिए उपर्युक्त गुणों का विकास एक अनिवार्य पूर्वशर्त है। वास्तव में, भारतीय शिक्षा का बुद्धि और संवेदना के विकास पर प्रथम आग्रह है जो 'धर्म' पुरुषार्थ की ओर ले जाता है; व्यवसाय-कौशल तथा सूचनात्मक ज्ञान का महत्त्व द्वितीयक है। इसके पीछे यह विश्वास काम कर रहा लगता है कि मानसिक-बौद्धिक प्रतिभा का विकास होने पर अन्य प्रकार के ज्ञान और कौशल आदि की उपलब्धि सहज हो जा सकेगी।

शिक्षा प्रक्रिया को तीन चरणों में विभाजित किया गया था- श्रवण, मनन और निदिध्यासन। पहले चरण में विद्यार्थी को गुरु का प्रवचन सुनना होता था (आज हम उसमें पाठ्य-पुस्तक या सामग्री को शामिल कर सकते हैं); दूसरे चरण में उस पर स्वयं विचार करना तथा समस्याओं को स्वयं या गुरु की सहायता से सुलझाना तथा तीसरे चरण में स्वयं उसका व्यावहारिक अनुभव करना होता था। यह ध्यातव्य है कि उपनिषदों में अध्यापक के सम्मुख प्रश्न प्रस्तुत करने और वाद-विवाद-संवाद को बहुत महत्त्व दिया गया है। ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जहां अपने पास किसी समस्या का समाधान न होने पर गुरु शिष्य को किसी और विद्वान के यहां जाने को कहता है तथा कभी-कभी स्वयं उसे लेकर जाता है। 'छान्दोग्य उपनिषद' में उद्दालक आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु के साथ पुनर्जन्म के बारे में जानने के लिए जावेलि के पास ले जाते हैं। इसी तरह एक अन्य उदाहरण में वह पांच ब्राह्मणों को सार्वभौम आत्मा के बारे में जानने के लिए राजा अश्वपति के पास भेजते हैं। लेकिन, किसी भी विषय का अध्ययन हो, विद्यार्थी को अपने सभी अध्ययनेत्तर दायित्वों का निर्वाह तो करना ही होता था। तभी उसकी शिक्षा को संतोषप्रद स्तर पर पूर्ण माना जा सकता था और तभी वह अपने काम और अर्थ पुरुषार्थों को उपलब्ध करते हुए मोक्ष के साधना-पथ पर अग्रसर हो सकता था।

यहां शायद मोक्ष या मुक्ति की अवधारणा पर कुछ विचार अपेक्षित है। मोक्ष, निस्संदेह, एक आध्यात्मिक अवधारणा है। लेकिन इसकी परिधि में सम्पूर्ण मानव-जीवन समाविष्ट है। क्या लौकिक जीवन जीते हुए मोक्ष सम्भव है? उत्तर सकारात्मक है। मोक्ष या मुक्ति का वास्तविक तात्पर्य अपने संकीर्ण स्व के घेरे का अतिक्रमण करते हुए जीवन के एकत्व या समत्व का बोध करना है। स्व और पर का द्वैत यहां मिट जाता है। मुक्त व्यक्ति के लक्षण बताते हुए 'महाभारत' में कहा गया है, ''जो अपने को सबमें और सबको अपने में अनुभव करता है, वह मुक्त है। जो इस ज्ञान के साथ जीवन जीता है कि अन्य में भी वही आत्मा है जो स्वयं उसमें है, वह ऐसी चेतना पा लेता है, जो मृत्यु से परे है।'' इसी तरह 'महाभारत' में ही कहा है, ''अन्य के साथ अपने एकत्व का और इस प्रकार साथ होने का अनुभव करते हुए जो सबका मित्र है; जिसने अपनी इन्द्रियों को नियंत्रण में कर लिया है; जो प्रतिष्ठा और प्रशंसा से निर्लिप्त है; गर्व से मुक्त है- ऐसा व्यक्ति सदैव मुक्त है।''

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
यदा पश्यति भूतात्मा ब्रह्म सम्पद्यते तदा।।
आत्मवत सर्वभूतेषु यश्चरेन्न्यिताः शुचिः।
अमानी निराभिमानः सर्वत्तो मुक्त एव सः।।
सर्वमित्रः सर्वसहः शमे रक्तो जितेन्द्रियः।
व्यपतेय भयमन्युश्च आत्मवान् मुच्यते नरः।।

यदि हम मुक्ति या मोक्ष को एक सम्पूर्णतः आध्यात्मिक अवधारणा भी मानें तो भी जीवन के एकत्व अथवा समत्व के बोध के लिए उपर्युक्त गुणों का विकास एक पूर्वशर्त होगी।

लेकिन उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह समझना भ्रामक होगा कि शिक्षा का भारतीय प्रयोजन केवल आध्यात्मिक आयाम पर केन्द्रित है। कोई अध्यात्मबोध सच्चा नहीं है यदि उसका अवतरण हमारे लौकिक जीवन तक न हो सके। यह आश्यचर्यजनक है कि सभी विद्या-शाखाओं को एक आध्यात्मिक पृष्ठभूमि दी गई है लेकिन जीवन से संबंधित देशकाल-सापेक्ष शायद ही कोई ऐसा विषय होगा, जिसकी शिक्षा की व्यवस्था न की गई हो। यदि हम अकादमिक

विषयों और व्यवसाय-कौशलों की सूची पर गौर करें तो लगभग सभी जरूरी ज्ञान-विज्ञान और कौशल वहां हैं। लेकिन हर स्थिति में जैसा कि प्रभु ने लक्षित किया है, ''चरित्र निर्माण और बौद्धिक विकास सहयात्री बनाए गए हैं। विद्यार्थी की नैतिक संस्कृति से उसकी बौद्धिक संस्कृति का पार्थक्य सम्भव नहीं है।''[10]

यहां पर यह उल्लेख अस्थाने नहीं होगा कि यह विश्लेषण केवल प्राचीन भारत के बारे में ही सही नहीं है, बल्कि मोटे तौर पर कुछ पतनशील प्रवृत्तियों के बावजूद, ब्रिटिशपूर्ण भारत के लिए भी सच है। धर्मपाल का गवेषणात्मक ग्रंथ 'दि ब्यूटीफुल ट्री', जो संपूर्णतः ब्रिटिश साक्ष्यों और ईस्ट इंडिया कम्पनी के सर्वेक्षणों पर आधारित है, उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ तक इस परंपरा के जीवित होने के साक्ष्य प्रस्तुत करता है। यह वह समय है जब कम्पनी की शिक्षा और राजस्व नीतियों ने देशज शिक्षा-व्यवस्था को उन्मूलित कर दिया और उसके ध्वस्त होने के साथ ही, उसकी पृष्ठभूमि में सक्रिय तत्व-चिंता भी विस्मृत होना स्वाभाविक ही था। धर्मपाल का शोध इस भ्रान्ति का भी उन्मूलन कर देता है कि भारत में शूद्रों को शिक्षा का अधिकार नहीं था। निश्चय ही उच्चारण की शुद्धता, अनुष्ठानों की जटिलता और स्मृति-आश्रित होने के कारण इस प्रतिबन्ध का औचित्य समझाने की कोशिश की जाती है, लेकिन निःसंदेह हमारे पवित्रतम ग्रंथों (वेदों) को एक वर्ग के लिए प्रतिबन्धित करने का आवश्यक परिणाम उस वर्ग को अपवित्र समझने और अस्पृश्यता जैसे दोषों के रूप में सामने आया। लेकिन धर्मपाल के अनुसार अन्य ग्रंथों का अध्ययन- जिसमें गीता भी सम्मिलित है और अन्य प्रकार की शिक्षा पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। वह न केवल शूद्र विद्यार्थियों बल्कि शूद्र अध्यापकों की भी सूची प्रस्तुत करते हैं। प्राचीन परंपरा में भी कोई भी व्यवसाय करते हुए व्यक्ति परम ज्ञान की उपलब्धि कर सकता था। 'महाभारत' में तुलाधार वैश्य और धर्मव्याध के उदाहरण इस बात की पुष्टि करते हैं।

टैगोर, महात्मा गांधी, जे. कृष्णमूर्ति आदि के शैक्षिक प्रयोग एक सीमा तक इस बात की याद दिलाते हैं कि किसी भी प्रकार की शिक्षा का परम प्रयोजन बंधन-मुक्ति ही है- सामाजिक-आर्थिक बंधनों से लेकर सांस्कृतिक-आध्यात्मिक बंधनों तक से मुक्ति। केवल तभी उस वास्तविक 'स्वराज' को पाया जा सकता है, जिसमें लौकिक और आध्यात्मिक का अभेद प्रकाशित हो सकेगा।

अन्त में, मैं 'तैतीरिय उपनिषद' की इस प्रार्थना का स्मरण करना चाहूंगाः
''ऋतंच स्वाध्याय प्रवचने च। सत्यं च स्वाध्याय प्रवचने च।।
तपश्च स्वाध्याय प्रवचने च। दमश्च च स्वाध्याय प्रवचने च।।
... अतिथियश्च स्वाध्याय प्रवचने च। मानुषं
स्वाध्याय प्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्याय प्रवचने च।
प्रजातिश्च स्वाध्याय प्रवचने च।।''[11]। ◆

संदर्भः

1. शुमाकर, ई. एफ., स्मॉल इज ब्यूटीफुल, पृ. 66
2. विष्णु पुराण, 1.19.41
3. राधाकृष्णन् एस., इंडियन फिलॉसफी खण्ड-1, पृ. 295
4. शतपथ ब्राह्मण 1/7/2/1-6
5. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास खण्ड 1 (संबंधित अध्याय)
6. अरविन्द श्री, 'एस्सेज ऑन गीता' पृ. 517
7. वही, पृ. 515
8. प्रभु, पी.एच., हिन्दु सोश्यल ऑर्गनाइजेशन, पृ 139
9. महाभारत, शांति पर्व 239.21-22 तथा आश्वमेधिक पर्व 19. 2-3
10. प्रभु, पी.एच. हिन्दु सोश्यल ऑर्गनाइजेशन, पृ. 126
11. तैतीरिय उपनिषद, शिक्षावल्ली-9